



स्वतन्त्रता पूर्व संसदीय लोकतंत्र पर पं. नेहरू का चिन्तन

*डॉ. सत्यवीर सिंह

**ज्योति (शोधार्थी)

*कार्यवाहक प्राचार्य एवं प्रवक्ता, चौधरी जी.एस. गर्ल्स डिग्री कॉलेज

बान्दूखेड़ी (सहारनपुर)

** समाजशास्त्र, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय

मेरठ, उत्तरप्रदेश, भारत

शोध संक्षेप

स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत के निर्माता के नाम से विख्यात हैं विश्व इतिहास और राजनीति की गहरी समझ रखने वाले नेहरू जी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के पक्षधर तो थे, परन्तु वे इसकी सीमाओं को भी भली-भांति जानते थे प्रस्तुत शोध पत्र में स्वतंत्रता पूर्व संसदीय लोकतंत्र के प्रति पंडित नेहरू के चिन्तन का विश्लेषण किया गया है।

संसदीय लोकतंत्र

संसदीय लोकतंत्र केवल आकर्षक वेशभूषा नहीं है, बाहरी परिधान मात्र नहीं है, सिर्फ सतह का दिखावा नहीं है। संसदीय लोकतंत्र की कुल ऐसी अपेक्षाएँ हैं जिनका संबंध अनुकूल वातावरण और आधारभूत मूल्यों से है। संसदीय लोकतंत्र का पौधा इस देश के लिए अनुपयुक्त है, किन्तु यदि हम लोग नागरिक और राजनीति के छोटे-बड़े कामगर इस पौधे को समूल उखाड़ने के लिए ही सन्नद्ध हो जायें तो फिर दोष संसदीय लोकतंत्र का नहीं है। आज जिस प्रकार हम हिंसा और उपद्रव का सहारा बिना हिचकिचाहट के लेते हैं, आज सच्चाई और सदाशयता के आदर्शों से हम दूर होते चले जा रहे हैं और जिस प्रकार हम अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी भी साधन का उपयोग करने में नहीं चूकते, ऐसी स्थिति में कोई भी राज्य व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। प्रश्न केवल यह नहीं है कि संसदीय लोकतंत्र हमें,

व्यक्तिशः या सामूहिक रूप से, क्या दे सकता है; प्रश्न यह भी है कि हम संसदीय लोकतंत्र को सफल और सार्थक बनाने के लिए क्या योगदान दे सकते हैं ? संसदीय लोकतंत्र की सफलता के लिए प्रत्येक भारतवासी के हृदय में क्रांति का सूत्रपात होना चाहिए जो उसे एक नयी दृष्टि और एक नयी निष्ठा दे सकें।

राजनीतिक दल

प्रत्येक राजनीतिक दल में आत्मपरीक्षण होना चाहिए कि जिससे एक अधिक स्वस्थ दलीय व्यवस्था का निर्माण संभव हो सके। नागरिक और शासक-वर्ग में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति एक नयी सचेतन प्रतीति होनी चाहिए जिसमें हम सत्ता के प्रति अनाधिकार प्रयोग की परम्पराओं से मुक्त हो सकें और एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक सहयोग की भावना से काम कर सकें। इस प्रकार हृदय परिवर्तन तभी हो सकता है जब कि हमारे देश का नेतृत्व त्याग और



समर्पण के आधार पर काम करने की एक नयी शैली और नयी परम्परा की नींव डाले और हम सब लोग कृतसंकल्प होकर संसदीय लोकतंत्र के दुर्ग की प्रत्येक प्राचीर की रक्षा करना अपना वैयक्तिक और सामूहिक कर्तव्य समझें।

व्यक्तियों की समझ

प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिस देश का वह वासी है उसकी शासन व्यवस्था क्या है और उन संस्थाओं का स्वरूप क्या है जो उसके जीवन को शासित करती हैं और उसकी स्वतंत्रताओं की रक्षा करती हैं। जैसा कि किसी ने कहा है , “इससे अधिक महत्व की बात कभी नहीं कही गई कि जो लोग अपनी सरकार के स्वरूप को नहीं समझते उनके लिए स्वतंत्रता और स्वतंत्र संस्थाओं को अधिक समय तक बनाए रखना संभव नहीं है।” जो राजनीतिक प्रणाली हमने अपनाई है उसमें संसद लोगों की सर्वोच्च संस्था है और अपनी स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता के प्रतीक के रूप में उनके लिए संसदीय प्रणाली को अच्छी तरह से जानना आवश्यक है।

संसदीय प्रणाली का एक पहलू ऐसा है जिसका कि इस विषय पर लिखी गई अधिकांश पुस्तकों में सरसरी तौर पर ही उल्लेख किया गया है और वह है संसद के दोनों सदनों का वास्तविक कार्यकारण अर्थात् उनकी बैठकें , पीठासीन अधिकारियों की भूमिका, प्रश्नकाल और प्रस्ताव, बजट और विधायी प्रक्रिया इत्यादि। यह कहना आवश्यक नहीं कि हमारी राजनीतिक प्रणाली के मूल्यांकन के लिए संसद के दोनों सदनों के वास्तविक कार्यकरण को अच्छी तरह समझना अनिवार्य है।

संसदीय लोकतंत्र का प्रभावपूर्ण होना काफी सीमा तक सचिवालय द्वारा इसे उपलब्ध कराई जाने

वाली सेवाओं पर निर्भर करता है। सचिवालय अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य में कार्यपालिका से जितना स्वतंत्र होगा उतनी ही निष्पक्ष और सही जानकारी वह उपलब्ध करा सकता है और ऐसी ही जानकारी के आधार पर सांसद अपने महत्वपूर्ण कर्तव्यों का निर्वहन कर सकते हैं। स्वतंत्र सचिवालय का महत्व 1920 के दशक के बाद के वर्षों से ही महसूस किया जाने लगा था। व्यक्ति स्वातंत्र्य

भारत में साइमन आयोग और संयुक्त समिति ने जो भारत शासन अधिनियम , 1935 के लिए उत्तरदायी थी मूल अधिकारों की घोषणाओं को अधिनियमित करने के विचार को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि अमूर्त घोषणाएँ व्यर्थ होती हैं जब तक कि उन्हें प्रभावी करने की इच्छाशक्ति और साधन विद्यमान न हो। किन्तु नेहरू प्रतिवेदन के समय से राष्ट्रवादी राय अधिकार विलेख के पक्ष में निश्चित रूप से थी , क्योंकि ब्रिटिश राज्य से जो अनुभव प्राप्त हुआ था वह यह था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करने में चाटुकारों की विधायिका कार्यपालिका की सेवा करने के लिए तत्पर रहती थी। इसलिए ब्रिटिश राय की ओर ध्यान न देते हुए संविधान निर्माताओं ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए और समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए (निदेशक तत्वों के साथ-साथ) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिए मूल अधिकार अंगीकार किए। वे अपने इस प्रयास में सफल हुए इस बात का साक्ष्य भारतीय संविधान के एक गहन अध्ययन कर्ता के कथन से प्राप्त होता है।

भारतीय संसदीय प्रणाली के प्रारूप को समझने में लिये भारतीय संविधानों के प्रावधानों को समझना अति आवश्यक हो जाता है। संविधान एक कोरा

कानूनी दस्तावेज ही नहीं होता। हम अक्सर मान बैठते हैं कि संविधान के अनुच्छेदों में जो शाब्दिक प्रावधान है वही संविधान है। वास्तव में, संविधान के मूल दस्तावेजों में लिखे गये शब्दों के अतिरिक्त और अन्यथा भी बहुत कुछ है जो संविधान की सही परिभाषा में आता है। परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, रीतियाँ, कार्यशैली, राजनीतिक आचरण - सभी संविधान की प्रक्रिया के अंग हैं। देश के जीवन में, व्याख्या और व्यवहार में, संविधान प्रतिदिन लिखा जा रहा है। औपचारिक रूप से लिखित संविधान में और वास्तविक अथवा इस्तेमाल के संविधान में जो फर्क है उसको समझने की जरूरत है। हमारे सांविधानिक और सार्वजनिक जीवन में विचार और व्यवहार का जो अन्तर है उसके यथार्थ को हृदयगम किये बिना न हम अपने राष्ट्रीय जीवन और उसके स्वभाव को पहचानने का दावा कर सकते हैं और न उसे दिशा देने का प्रयोजनशील प्रयत्न ही कर सकते हैं।

प्रजातंत्र की कुंजी

संसदीय लोकतंत्र के पक्ष में बहुत वर्षों पहले एडमंड बर्क ने कहा था कि राज्य व्यवस्था बनाना अपने आप में कोई मुश्किल काम नहीं है। सत्ता का केन्द्र निश्चित कर दिया जाये, प्रजा को आज्ञाकारी होना सिखा दिया जाये और बस काम पूरा हो गया। स्वतंत्रता देना और भी आसान है। मार्गदर्शन देने की जरूरत नहीं है, बस लगाम छोड़ देना ही काफी है, किन्तु स्वतंत्र प्रजातंत्र, जिसमें अधिकार और अनुशासन का सन्तुलित सुसंगत समन्वय है, बहुत विचार और चिन्तन की अपेक्षा रखता है। स्वातंत्र्य और नियंत्रण के बीच का यह सन्तुलन ही सफल प्रजातंत्र की कुंजी है। स्वातंत्र्य और नियंत्रण का कोई सुनिर्धारित सन्तुलन या पूर्व-निश्चित

फार्मूला प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक युग के लिए नहीं बताया जा सकता। यह सन्तुलन समाज और उसकी मान्यताओं के साथ और सामाजिक शक्तियों के समीकरण की तरह गत्यात्मक है। जब भी इस सन्तुलन की मर्यादा भंग हो जाती है तो प्रजातंत्र की व्यवस्था में बिखराव के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस मर्यादा का सोष्ठव मात्र राजकीय उपक्रम पर आश्रित नहीं है। न केवल संसद और सरकार, न केवल सरकारी और विपक्षी दल, बल्कि नागरिक और उनका आचरण, स्थायी सेवाएँ, न्यायपालिका, प्रेस और विश्वविद्यालय सभी अपने-अपने तरीके से न्यूनाधिक मात्रा में लोक मर्यादा की प्रतीति को और उसकी अन्तर्निहित मान्यताओं को निर्मित और नष्ट करते हैं, सांविधानिक यंत्र को सामाजिक क्षमता का क्षय और संवर्धन करते हैं। इसलिए सांविधानिक प्रजातंत्र की सफलता और असफलता का दायित्व समस्त समाज का दायित्व है, पूरे समाज के विवेक और स्वायत्त शासन के लिए उसके सामर्थ्य की परीक्षा है, समूचे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक नेतृत्व के लिए चुनौती है।

संसदीय लोकतंत्र के शासन को भारत के संविधान निर्माताओं ने सबसे अच्छा शासन माना है। आज विश्व के समुन्नत देश व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समानता के नये सीमान्त पर पहुँचने के लिए दृढ़ संकल्प है। इस प्रयोजन के लिए हमें जिस सांविधानिक पाथेय की अपेक्षा है वह हमें अपने सामाजिक जीवन की संघर्षाकुल दायित्वपूर्ण संरचना में ही मिल सकता है, अवास्तविक सैद्धान्तिक व्याख्याओं और पलायन की मृगमरीचिका में नहीं। संविधान की जड़े जीवन की कर्मभूमि में हैं, हमारे स्वभाव और हमारी

क्षमता में है, राष्ट्र के विवेक और ईमानदारी में है। संविधान में हमारे शासन के चलाने के तौर-तरीकों जैसे कि संसदीय लोकतंत्र, कल्याणकारी राज्य जैसे शासकीय गुणों का विवेचन मिलता है।

सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र सब मनुष्यों और स्त्रियों की समानता का प्रतिपादन करता है। जिस समाज का संगठन लोकतंत्रात्मक हो, उसमें न तो कोई सुविधा सम्पन्न वर्ग-विशेष हो सकता है और न जाति, धर्म, भाषा, वर्ण, वंश, धन और लिंग के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव की दीवारें खड़ी की जा सकती हैं।

लोकतंत्र “जनता का, जनता के द्वारा जनता के लिए” शासन है और जनता से अभिप्राय समस्त जनता से है। यह समझना भारी भूल होगी कि लोकतंत्र बहुमत का शासन है। इसमें संदेह नहीं कि जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव बहुमत के द्वारा होता है किन्तु एक बार निर्वाचित होने के बाद वे समस्त जनता के प्रतिनिधि हो जाते हैं तथा समस्त जनता के हित के लिए ही शासन करते हैं। लोकतंत्र को अल्पसंख्यकों की सहमति से बहुमत का शासन भी कहा गया है।

लोकतंत्र के आर्थिक पक्ष का अभिप्राय है कि सार्वभौम मताधिकार के प्रवर्तन से ही लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। लोकतंत्र की वास्तविक स्थापना के लिए आवश्यक है कि समाज में आर्थिक शक्ति का ऐसा समतलयुक्त वितरण हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुखी व समृद्ध हो सके और वह आत्मविकास के लिए पर्याप्त अवसर पा सके।

लोकतंत्र के राजनीतिक पहलू में राजनीतिक समानता के आदर्श को स्वीकार किया जाता है और राजनीतिक शक्ति पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं माना जाता। इसमें शासन

का संचालन बहुमत के सिद्धान्त के अनुसार होता है और वहीं विधियाँ लागू की जाती हैं जिन्हें जनता का समर्थन प्राप्त हो।

संसदीय लोकतंत्र और नेहरू

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतंत्र का केवल एक शासन-प्रणाली के रूप में ही नहीं बल्कि जीवन के सम्पूर्ण, दर्शन के रूप में भावन किया गया है। उद्देशिका में ‘लोकतंत्रात्मक’ शब्द ‘गणराज्य’ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे यह संदेह हो सकता है कि संविधान में केवल राजनीतिक लोकतंत्र का ही प्रवर्तन किया है। पर उद्देशिका के आगे के शब्द ‘न्याय’, ‘स्वतंत्रता’, ‘समता’, ‘व्यक्ति की गरिमा’, ‘राष्ट्र की एकता और अखण्डता’ एवं ‘बन्धुता’ आदि भली-भाँति प्रमाणित कर देते हैं कि संविधान निर्माताओं का लक्ष्य देश में राजनीतिक लोकतंत्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की नींव डालना भी था।

संसदीय लोकतंत्र स्थापित करने के पीछे पं. जवाहरलाल नेहरू का विशेष प्रभाव उनकी विचारधारा में देखने को मिलता है। जब हमारी शासन प्रणाली निर्धारित हो रही थी तब पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा- “यह जो उद्देश्य प्रस्ताव में आपके सामने पेश कर रहा हूँ एक घोषणा है, एक ऐलान है जो प्रस्ताव की शक्ति में है। काफी गौर किया गया है और कोशिश की गई है कि इसमें कोई ऐसी बात न हो जो खिलाफ समझी जाये और बहुत ज्यादा बहस-तलब हो। यह तो जाहिर है कि एक बड़े मुल्क में बहस करने वाले ज्यादा हो सकते हैं। लेकिन कोशिश यही हुई है कि उसमें बहस मुबाहिसे की बात कम से कम हो। इसमें बुनियादी बातें हों, जो कि एक मुल्क आमतौर से पसंद करता है और मंजूर करता है। मैं नहीं समझता कि इस प्रस्ताव में

कोई ऐसी बात है जो कि अब्बल इस ब्रिटिश केबिनेट के बयान की हद से बाहर हो, दोगम यह कि कोई भी हिन्दुस्तानी, चाहे वह किसी गिरोह में हो, उसके नामंजूर करें। बदकिस्मती से हमारे मुल्क में बहुत सारे इख्तलाफ हैं लेकिन इन बुनियादी उसूलों में, जो उनमें लिखे हैं, इक्के-दुक्के आदमियों के अलावा कोई इख्तलाफमें नहीं जानता। इस प्रस्ताव का क्या बुनियादी उसूल है। वह यह है कि हिन्दुस्तान एक आजाद मूल्क हो। एक सोवरण (सम्प्रभु) रिपब्लिक (गणराज्य) हो। रिपब्लिक लफज का जिक्र हमने अभी तक जाहिर नहीं किया था, लेकिन आप खुद समझ सकते हैं कि आजाद हिन्दुस्तान में और हो क्या सकता है। सिवा रिपब्लिक के कोई रास्ता नहीं है। इसकी एक ही शकल है कि हिन्दुस्तान में रिपब्लिक हो।”

संसदीय प्रजातंत्र की प्रणाली एवं ढाँचे को खड़ा करने में समय-समय पर नेहरूजी के विचारों को संविधान सभा के प्रस्ताव में हमने देखा कि भारत में संसदीय प्रजातंत्र के लिये खाका कितने पहले से उनके दिमाग में चल रहा था तथा किस प्रकार उन्होंने इसे साकार किया। इस पर बोलते हुए कहा कि- “हमने एक महान् काम उठा लिया है और इसमें हम सब लोगों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यह इसलिए कि भारत का भविष्य जिसकी कल्पना हमने की है, किसी खास दल, सम्प्रदाय या प्रान्त के लिए ही सीमित न होगा बल्कि वह तो भारत की चालीस करोड़ जनता के लिए होगा।” हमें इन कुछ बेंचों को खाली देखकर और कुछ साथियों को जो यहां उपस्थित हो सकते थे, अनुपस्थित पाकर बड़ा दुःख होता है। मुझे आशा है और मैं समझता हूँ कि वे आएंगे और यह सभा पीछे चलकर उन सबके सहयोग का लाभ प्राप्त करेगी। पर इस

बीच में हम सब पर एक दायित्व है कि हम अपने अनुपस्थित मित्रों का ध्यान रखें और हमेशा यह स्मरण रखें कि हम यहां किसी खास दल के लिये काम करने नहीं आये हैं। हमें सारे हिन्दुस्तान का यही के चालीस करोड़ नर-नारियों का सदा ख्याल रखना है। हम सब फिलहाल अपनी-अपनी सीमाओं में दल विशेष के हैं, चाहे उस दल के या उस दल के और शायद अपने-अपने दलों के साथ काम करना भी जारी रखेंगे। आने-वाले समय में भारत में संसदीय प्रजातंत्र के निर्देशन में शासन व्यवस्था का सपना नेहरूजी की बड़ी प्रेरणा थी; जो उन्होंने अन्य साथियों की मदद से साकार करने में सफल हो जायें। हम कहते हैं कि हमारा यह दृढ़ और पवित्र निश्चय है कि भारत सर्वाधिकारपूर्ण स्वतंत्र, प्रजातंत्र होकर ही रहेगा। मैं राजतंत्र की बहस में न जाऊंगा अवश्य ही हम भारत में शून्य से (बिना किसी ओर के) राजतंत्र नहीं स्थापित कर सकते। जब भारत को हम सर्वाधिकारपूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र बनाने जा रहे हैं तो किसी बाहरी शक्ति को हम राजा न मानेंगे और न किसी स्थानीय राजतंत्र की ही तलाश करेंगे। यह तो निश्चय ही प्रजातंत्रीय होगा। कुछ मित्रों ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि मैंने प्रस्ताव में लोकतंत्रीय शब्द क्यों नहीं रखा। मैंने उन्हें बताया कि रिपब्लिक राज्य डेमोक्रेटिक न हो ऐसा समझा जा सकता है, पर हमारा सारा अतीत इस बात का गवाह है कि हम संसदीय लोकतंत्रीय संस्था की स्थापना चाहते हैं। स्पष्ट है कि हमारा लक्ष्य संसदीय लोकतंत्रीय व्यवस्था ही है और उससे कम हम कुछ नहीं चाहते। उस संसदीय लोकतंत्र का क्या रूप हो, यह बात दूसरी है। वर्तमान युग के लोकतंत्र ने यूरोप की और अन्य स्थानों की लोकतंत्रीय शासन-पद्धति ने संसार की तरक्की में बड़ा हिस्सा

लिया है। इसमें संदेह है कि ये लोकतंत्र , यदि सही माने में इन्हें लोकतंत्र रहना है तो अपना वर्तमान स्वरूप अधिक दिनों तक रख सकेंगे। समाजवाद और नेहरू भारतीय सन्दर्भ में लोकतंत्र और समाजवाद के अंतःसम्बन्ध के विषय में जवाहरलाल के अपने विश्वास को इसी पृष्ठभूमि में समझना है। वे उत्तरोत्तर समाजवाद की ओर बढ़ते हुए लोकतांत्रिक विश्वास वाले राष्ट्रवादी थे। भारतीय दृश्य का उनका जो अपना चिन्त था उसमें प्राथमिकताओं का यह वास्तविक क्रम था, प्रारम्भ में शायद जो भी शब्दजाल रहा हो। उनकी नजर में, भारत जैसे बहुभाषाई, विशाल और फैले हुए समाज में जहां शासक वर्ग और विशिष्ट वर्ग को बाहरी सीमान्तों पर के समूहों को मुख्य धारा में मिलाने का सतत प्रयास करते रहना है , लोकतांत्रिक प्रक्रिया के सिवा कोई भी दूसरा विकल्प नहीं था। साथ ही , लोकतंत्र ही ऐसी पद्धति है जिसके माध्यम से, कम-से-कम भविष्य में, आबादी के बड़े हिस्से के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सकता है जिसे आजादी से तत्काल कोई फायदा नहीं हुआ है जो अभी भी कष्ट की जिन्दगी बिता रहा है। ऐसी स्थिति के वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक संविधान और लोगों के लिए समय-समय पर अपने विचार व्यक्त करने की व्यवस्था अनिवार्य थी। जवाहरलाल जानते थे कि एक ऐसे राष्ट्र में जहां जाति , साम्प्रदायिकता और गरीबी जैसे अनेक जटिल प्रश्न हैं , उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व और सभी उपयोगिताओं पर समुदाय के नियंत्रण के साथ मूल रूप में समाजवाद की स्थापना यथार्थवदी नहीं होगी। सामाजिक न्याय के साथ लोकतंत्र , लोकतांत्रिक अमुखों पर आधारित समाजवादी नियोजन। नेहरू

और उनके सहयोगियों को ऐसा लगा कि बिना किसी क्रान्ति, खून-खराबे के प्रगति और न्याय सुनिश्चित करने का यह एक रास्ता है। रूस के युद्ध-पूर्व के अनुभव पर आधारित महाला जोविस योजना में सोवियत प्रणाली की केवल कुछ ही बातें अपनायी गयी थी। वास्तव में यह संसाधनों की कमी जैसी भारतीय अर्थव्यवस्था की वास्तविकताओं तथा अर्थव्यवस्था के अत्यन्त महत्वपूर्ण नये क्षेत्रों , खासकर भारी उद्योगों में नये संसाधन पैदा करने की स्वयं सरकार की विवशता के साथ बुद्धिमतापूर्ण सामंजस्य था। सार्वजनिक क्षेत्र पर जोर देने के साथ-साथ निजी क्षेत्र की तनिक भी उपेक्षा नहीं करना ही नियंत्रक दर्शन बन गया। साथ ही इसमें कहीं कुछ मताग्रह नहीं था। जन समर्थन के अभाव और लोगों की उदासीनता के कारण , दुर्भाग्यवश उपर्युक्त कल्याणकारी उपाय ज्यादा कारगर नहीं हो सके। भारत में लोक कल्याणकारी नीतियों के मूल्यांकन से सही बात साफ उभर कर आती है कि स्वीकृत सामाजिक यथार्थ और दूसरी तरफ व्यापक गरीबी, निरक्षरता, अस्वास्थ्य और अन्ध विश्वासों आदि के निराकरण के लिए पारित अधिनियमों के बीच काफी गहरी खाई है। ऐसा मुख्य रूप से संशोधनों के सीमित होने के कारण है संशोधनों का सीमित होना तीसरी दुनिया के देशों की विशिष्ट त्रासदी है। ऐसी कल्याणकारी नीतियों के आदर्शों और उन्हें लागू करने की व्यवहारिक-कठिनाईयों से सम्बन्धित समस्याओं के कारण भी है। मसलन, व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण दहेज-निषेध और मद्य -निषेध जैसी नीतियाँ आंशिक रूप से लागू हो सकी हैं। सरकार की तरफ से भी संस्थाओं को आवश्यक संसाधनों , ग्रामीण मजदूरों के न्यूनतम वेतन जैसी कई



नीतियाँ नमा मात्र को ही लागू हो पाई। इन सब कमियों के बावजूद, व्यापक स्तर पर सामाजिक आर्थिक कठिनाईयों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तीसरी दुनिया में भारतीय कल्याणकारी राज्य का स्थान सर्वोपरी है। 1927 की यूरोप यात्रा में जवाहर लाल नेहरू के दिमाग में रूसी समाजवादी समाज की छवि स्थायी घर कर गई, जिसे स्वयं नेहरू ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया- “मेरा दृष्टिकोण विस्तृत हो गया था तथा राष्ट्रवाद मुझे निश्चयतः स्वयं में एक संकीर्ण और अपूर्ण मत प्रतीत होने लगा। स्वतंत्रता या राजनीतिक स्वाधीनता निःसन्देह अनिवार्य है किन्तु वे उसे उचित दिशा में चरण मात्र है क्योंकि समाज और राज्य में सामाजिक स्वतन्त्रता और समाजवादी संरचना के अभाव में व्यक्ति अथवा दर्शन का अधिक विकास संभव नहीं हो सकता। 1931 में हुए करांची अधिवेशन के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस का उद्देश्य देश में समाजवादी आर्थिक आन्दोलन लाना हो गया। 1945 के कांग्रेस चुनाव घोषणा पत्र के अनुसार “भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक समस्या यह है कि कैसे गरीबी के अभिशाप को मिटाया जाए और जनता के जीवन स्तर को ऊँचा किया जाए। यह घोषित करना था कि उस प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों और गुणों के हाथों धन और शक्ति का केन्द्र होने से निवारित किया जाए और समाज के शत्रुरूप स्थिर स्वार्थी को बढ़ने से रोका जाए। इसमें प्रस्थापित था कि साम्यपूर्ण प्रतिकार के संदाय पर मध्यवर्तियों की भूमि को अर्जित किया जाए। इसके बाद अखिल भारतीय कांग्रेस ने दिल्ली के अधिवेशन में इस भाव का एक संकल्प पारित किया था कि कांग्रेस का यह उद्देश्य होना

चाहिए कि वह ऐसा आर्थिक ढांचा निर्मित करें जो बिना निजी एकाधिकार के सृजित किये गये तथा धन को केन्द्रीकरण किये बिना अधिकतम उत्पादन दे सकें। “प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त जब से हुआ है, तब से भारत में राष्ट्रीय और सामाजिक दो समानान्तर क्रान्तियां चल रही हैं। स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ राष्ट्रीय क्रान्ति फिर भी चलती रहेगी। जैसा कि नेहरू ने कहा था कि स्वतंत्रता अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है और वह लक्ष्य है जनता को उठाकर ऊँचे स्तर पर ले जाना और उस प्रकार मानवता को आगे बढ़ाना। इस संविधान सभा का पहला काम यह है कि एक नया संविधान बनाकर भारत को स्वतंत्र बनाएं, भूखा मरने वाली जनता को खाना दें और नंगे रहने वाली जनता को कपड़ा दें तथा भारत के हर निवासी को अपनी क्षमता के अनुसार अपना विकास करने का पूरा-पूरा अवसर दें।” संसदीय लोकतंत्र के बारे में जवाहरलाल नेहरू का विचार था कि राष्ट्रीय प्रयास का लक्ष्य एक ऐसी नई समाज व्यवस्था एवं शासन प्रणाली का निर्माण करना है जिसमें आम लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी हो सकें, सभी को मूल मानवीय अधिकार प्राप्त हो सकें और समान अवसर मिल सकें। संविधान सभा और उसके द्वारा निर्मित संविधान दोनों एक वृहत्तर राष्ट्रीय प्रयास के अंग मात्र होने थे। ग्रेनविल आस्टिन के शब्दों में- “संविधान अनेक लक्ष्यों को सिद्ध करने का साधन है। उन सबसे श्रेष्ठ सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य है। इस क्रान्ति के माध्यम से जन साधारण की मूल आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी और आशा है कि इस क्रान्ति से भारतीय समाज के ढांचे में आमूल परिवर्तन हो सकेंगे। भारतीय शासन की

एक सुदीर्घ और गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा है किन्तु संविधान सभा के सदस्यों के अपने मत के अनुसार देश को शक्ति और विवेक के नये संचार की आवश्यकता थी। सामाजिक क्रांति का विचार संविधान सभा की कार्यवाही और दस्तावेजों में भरा पड़ा है।”

भारत में आजादी संघर्ष के समय संसदीय लोकतंत्र प्रणाली पर जोर देकर शासन व्यवस्था में परिवर्तन के प्रति जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण मिला-जुला था। उन्हें अन्ध विश्वास तथा कर्मकाण्ड राजाओं तथा ईश्वरीय अधिकारों को जन्म देने वाली व्यवस्था अथवा शोषण करने वाले एवं अर्थलोलुप उद्योगपतियों को उत्पन्न करने वाली व्यवस्था पसन्द नहीं थी। फिर भी उन्होंने महसूस किया कि एक प्रजातांत्रिक समाज संघर्ष की बजाय सामंजस्य ज्यादा महत्वपूर्ण है केवल धैर्य और शिक्षा तथा धीरे-धीरे किये जाने वाले उपाय ही सफल हो सकते हैं। वे बुद्धिवाद, उदारवाद वैज्ञानिक प्रशिक्षण और औद्योगिक सभ्यता के वातावरण में पले थे और प्रथाओं, परम्परा तथा निष्क्रियता के बोझ से दबे समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। वे मुख्यरूप से धार्मिक मानसिकता वाले सहयोगियों तथा अनुयायियों के बीच कार्य करते हुए रूढ़ियों को तोड़ने वाले व्यक्ति थे। वह जातीय साम्प्रदायिक, वर्गगत तथा क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों से परे थे। जवाहरलाल नेहरू न तो गतिहीन थे और न ही अनिवार्यतः किसी बात पर अड़े रहने वाले व्यक्ति थे। समय के साथ-साथ उनमें प्रौढ़ता आती गई। वे आगे बढ़ते गये और उनमें परिवर्तन आता गया। उन्होंने पिछली शताब्दी में दुनिया को तेजी से बदलते देखा था। दुनिया में चारों ओर हो रही घटनाओं के प्रति कभी उनके विचारों में परिपक्वता झलकती थी तो कभी

मोहभंग दिखाई देता था। बाद में प्रशासन के दबाव में उनकी सोच तथा कार्य करने की शैली को प्रभावित किया। परन्तु वे सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक-आर्थिक बदलाव, विज्ञान और बुद्धिमान के प्रति पूरी तरह वचनबद्ध थे, यद्यपि प्रयुक्त किये जाने वाले तरीकों और संभावित गति के बारे में उनके विचारों में कभी-कभी आमूल और कभी-कभी अपेक्षाकृत कम परिवर्तन आया परन्तु उस सीमा तक नहीं कि उन्हें अपनी मौलिक सोच ही त्यागनी पड़े। संसदीय प्रणाली की संकल्पना के पीछे नेहरूजी के विचारों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। जवाहरलाल इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि व्यक्तियों का केवल नैतिक और आत्मिक सुधार करके ही बाहरी वातावरण में परिवर्तन लाया जा सकता है। जैसा कि उन्होंने कहा है- “इन आसक्तियों कीलंत को वास्तविकता के बारे में अलग-अलग धारणाएँ हो सकती हैं परन्तु क्या इसमें कोई संदेह हो सकता है कि व्यक्तिगत दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक दृष्टि से भी ये व्यक्तिगत भावनाएँ लिप्सा, स्वार्थ, संग्रह करने की प्रवृत्ति, व्यक्तिगत लाभ के लिए भीषण संघर्ष, एक समूह द्वारा दूसरे समूह का अमानवीय दमन तथा राष्ट्रों के बीच घोर युद्ध से कम हानिकारक है ? परन्तु क्या वे आज के संग्रह करने की प्रवृत्ति वाले उस समाज में अन्तर्निहित नहीं हैं जिसका यह कानून कि बलशाली कमजोर को दबाता है। मुनाफा कमाने का उद्देश्य ही अनिवार्यतः झगड़े की जड़ है। यह सम्पूर्ण पद्धति मानव की हिंसक प्रवृत्तियों की रक्षा करती है तथा उन्हें हर प्रकार का अवसर प्रदान करती है, यह मानव की कुछ उत्कृष्ट प्रवृत्तियों को तो प्रोत्साहित करती है परन्तु इससे भी कहीं अधिक यह घटिया प्रवृत्तियों को

प्रसोत्साहित करती है, सफलता का अर्थ है दूसरों को मार गिराना तथा अपने पराजित दासों को और दबाना।”

संसदीय लोकतंत्र के जरिये नेहरूजी का विश्वास था कि सबसे अच्छी शासन प्रणाली के रूप में भारत का भविष्य निर्माण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया जायेगा। जवाहरलाल जी के आधुनिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा इतिहास के उनके अध्ययन ने उन्हें इस बात का पूरा बोध करा दिया था कि निरंकुश सत्ता, परमसुख और शान्त वातावरण में रहने वाले आत्मनिर्भर गाँवों की स्थिति को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसे गाँव स्थापित करना यदि संभव भी हो तो यह विश्व उन्हें अकेला नहीं जीने देगा। इसलिए, आधुनिक समाज, हिंसा, आक्रामक प्रवृत्ति, शोषण, निर्धनता, संघर्ष तथा यहां तक कि युद्ध की समस्याओं का हल इस पद्धति में, समाज के ढांचे में तथा संस्थागत स्वरूप में मूल परिवर्तन करके ढूँढना अनिवार्य था। इसके परिणामस्वरूप जवाहरलाल जी विचारधारा में यह परिवर्तन आया कि - “केवल एक संभव हल यह है कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना सर्वप्रथम राष्ट्र की सीमाओं के भीतर तथा अन्ततः सम्पूर्ण विश्व में स्थापित की जाये जिसमें आम लोगों की भलाई के लिए उत्पादन तथा सम्पत्ति का वितरण नियंत्रित हो।

संसदीय लोकतंत्र स्थापित करने एवं स्वतंत्रता के लिए संघर्ष ही पहला और आवश्यक कदम था। परन्तु इसके पश्चात अन्य कदम भी उठाए गए। जवाहरलाल जी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रश्न पूछा - “किसी की स्वतंत्रता के लिए हम विशेष रूप से प्रयास कर रहे हैं, राष्ट्रवाद में बहुत से दोष हैं तथा इसमें कई परस्पर विरोधी तत्व शामिल हैं ? भारत राजकुमारों का सामन्तवादी,

बड़े जमींदारों, छोटे जमींदारों पेशेवर वर्ग, कृषकों, उद्योगपतियों, बैंकरों निम्न मध्यम वर्ग, श्रमिकों का देश है। इसमें विदेशी पूँजी तथा घरेलू पूँजी, विदेशी सेवाओं तथा घरेलू सेवाओं के हित निहित हैं। इसका राष्ट्रवादी उत्तर है घरेलू सेवाओं को विदेशी सेवाओं की अपेक्षा अधिक वरीयता देना। परन्तु यह आन्दोलन इससे आगे नहीं गया। यह वर्ग विभाजन अथवा सामाजिक यथा-स्थिति में हस्तक्षेप न करने का प्रयास करता है। ऐसा समझा जाता है कि स्वतंत्र होने पर ये स्थान बना लेंगे। अनिवार्यतः मध्यम सामान्यतः उसी वर्ग के हितों के लिए कार्य करता है। यह स्पष्ट है कि देश में विभिन्न हितों के बीच गंभीर विरोध है और कानून, प्रत्येक नीति, जो एक हित के लिए अच्छे हैं। दूसरे हित के लिए बुरे हो सकते हैं।”

पं. जवाहरलाल नेहरूजी संसदीय लोकतंत्र एवं सरकार के स्वरूप को लक्ष्य प्राप्ति का एक साधन मानते थे। यहां तक कि स्वतन्त्रता भी एक साधन थी और लक्ष्य था मानव कल्याण, मानवीय विकास, गरीबी उन्मूलन, रोग और कष्टों का निवारण तथा प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से “अच्छा व्यक्तीत करने का अवसर प्रदान करना। पूँजीवाद ने उत्पादन की समस्या तो हल कर ली थी, परन्तु वह वितरण की सम्बद्धता समस्या से निपटने में असमर्थ था। पूँजीवाद इस समस्या का समाधान नहीं कर सका, उसने तो विश्व को केवल अस्थिर और असन्तुलित ही बनाया। पूँजीवादी प्रणाली की मूलभूत असमानताओं को समाप्त करने की दृष्टि से सम्पत्ति और क्रय शक्ति के समान वितरण की व्यवस्था करने के लिए पूँजीवाद के स्थान पर कोई और अधिक वैज्ञानिक प्रणाली लाए जाने की आवश्यकता है। इसलिए, जवाहरलाल ने स्वतंत्रता

आन्दोलन के बीच भी देशवासियों को यह स्मरण कराया- “राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रवादी संघर्ष धीरे-धीरे आर्थिक स्वतंत्रता के लिए एक सामाजिक संघर्ष भी बनाया जा रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति और समाजवादी राज्य की स्थापना मुख्य लक्ष्य बना गए जिनमें इस समस्या के दो पहलुओं पर थोड़ा अथवा अधिक दबाव पड़ता रहा। अतः भारत का तात्कालिक लक्ष्य उसकी जनता का शोषण समाप्त करने की भावना ही माना जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से उसका अर्थ स्वतंत्रता प्राप्ति और ब्रिटेन से अर्थात् समाज्यवादी आधिपत्य से सम्बन्ध विच्छेद करना है: आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से इसका तात्पर्य विशेष वर्ग के सभी विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों को समाप्त करना है।”

सन 1928 में ऐतिहासिक लाहौर कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलाल ने स्वीकारोक्ति की थी- “मैं यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि मैं एक समाजवादी और गणतंत्रवादी हूँ तथा राजाओं और राजकुमारों में या ऐसी किसी व्यवस्था में विश्वास नहीं रखता हूँ जो आधुनिक औद्योगिक राजा बनाने वाली हो। जिनके पास प्राचीन युग के राजा-महाराजाओं से भी अधिक शक्ति हो और जिनके तौर-तरीके प्राचीन समान्तों की तरह लूटमार करने वाले हों। तथापि , मैं यह मानता हूँ कि राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी किसी संस्था द्वारा और देश की वर्तमान परिस्थितियों में पूर्ण रूप से समाजवादी कार्यक्रम अंगीकार करना संभवन ही है , परन्तु हमें यह महसूस करना चाहिए कि समाजवाद की विचारधारा पूरे विश्व में समाज के सम्पूर्ण ढांचे में फैल गई और लगभग विवाद का प्रश्न केवल यह है कि पूरी तरह प्राप्त करने के लिये क्या गति और तरीके अपनाये जाये। यदि भारत अपनी गरीबी और असमानता

समाप्त करना चाहता है तो उसे भी उस रास्ते पर चलना होगा। यद्यपि वह अपने तरीके बना सकता है और अपने लोगों की बौद्धिकता के अनुसार अपना सकता है।”

जवाहरलाल नेहरू ने 1929 में कहा था कि वर्तमान व्यवस्था में उद्योग का कार्य करोड़पति लोग पैदा करना है- “इसलिए हमारी अर्थव्यवस्था मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित होनी चाहिए और धन के लिए आदमी का बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। यदि किसी उद्योग को उसके कामगारों को भूखे मारे बिना नहीं चलाया जा सकता है, तो वह उद्योग बंद हो जाना चाहिए। यदि देश में कामगारों को पर्याप्त खाना नहीं मिलता तो उन बिचैलियों को समाप्त करना होगा जो उन्हें उनके पूरे हिस्से से वंचित करते हैं। खेत या कारखाने का प्रत्येक कामगार कम से कम एक चीज का तो हकदार है ही , वह चीज है न्यूनतम मजदूरी जिससे वह अपना सामान्य जीवन निर्वाह कर सके और उतने मानवीय श्रम घण्टे जो उसकी शक्ति और उत्साह को न तोड़ दें।”

ये प्रगति चाहते थे , परन्तु वह यह भी चाहते थे कि वह प्रगति भारतीय ताने-बाने में हो। जैसा कि नेहरूजी स्वयं ने कहा- “राष्ट्रीय प्रगति ने तो अतीत को दोहराने में है और न ही उसे नकारने में। नई पद्धतियां तो अवश्य अपनाई जानी चाहिए, परन्तु वे पुरानी पद्धतियों से जुड़ी हों। भारत का इतिहास इस प्रकार हुए परिवर्तनों का एक आश्चर्यजनक रिकार्ड है जो बताता है कि पुरानी विचार धाराओं को अपनाया जाता रहा और पुरानी पद्धतियों के स्थान पर नई पद्धतियां भी आती गईं। इसी के कारण , कोई सांस्कृतिक अंतराल नहीं आया है तथा मोहनजोदड़ों के समय के प्राचीन दिनों से लेकर आज के हमारे युग तक

बराबर हुए परिवर्तनों में निरन्तरता बनी रही। अतः स्वरूप तो वही बने रहे परन्तु अंदर की विषयवस्तु बदलती रही। जवाहरलाल ने भारतीय इतिहास का गहन अध्ययन किया था इसलिए उनके मन में अतीत काल की पद्धतियां और भारतीय इतिहास के विकास के प्रति इतना सम्मान पैदा हो गया था कि वह यहां तक विश्वास करने लगे थे कि भारत में आधुनिक वैज्ञानिक विचारों और धर्म के बीच किसी संघर्ष की आवश्यकता नहीं- “भारत में विचारों की अभिजात स्वतंत्रता चाहे व्यवहार में यह कितनी भी सीमित हो, लेकिन इसके कारण नए विचारों को स्वीकार करना बंद नहीं हुआ था। भारतीय संस्कृति के मूल आदर्श व्यापक आधार वाले हैं और उन्हें लगभग किसी भी परिस्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। विज्ञान और धर्म के बीच कटु संघर्ष, जिसने 19वीं शताब्दी में यूरोप को हिला दिया था, भारत में नहीं हो सकता और न ही विज्ञान को अपनाने के आधार पर हुए परिवर्तनों से उन आदर्शों से कोई टकराव हो सकता है। निःसंदेह ऐसे परिवर्तनों से हलचल तो फैलेगी क्योंकि उनसे भारत के लोगों का मन आन्दोलित हो रहा है, परन्तु उन्हें रोकने या उन्हें अस्वीकार करने के बजाय बौद्धिकता के अनुरूप ढाल लेगा। ऐसा संभव होगा कि इस प्रक्रिया में पुरातन दृष्टिकोण में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जाएंगे परन्तु वे परिवर्तन बाहर से नहीं थोपे जाएंगे बल्कि वे लोगों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से ही स्वाभाविक रूप से पनपते हुए प्रतीत होंगे।

नेहरू बड़े पैमाने के उद्योगों से उत्पन्न समस्याओं से अनभिज्ञ नहीं थे लेकिन उनका कहना था कि इसमें संवृत्ति का कोई दोष नहीं है। बल्कि यह दोष प्रणाली का है। हिंसा और

एकाधिकार तथा कुछ लोगों के हाथों में धन का जमाव वर्तमान आर्थिक ढाँचे का परिणाम है। बड़े पैमाने के उद्योगों में अन्याय तथा हिंसा को नहीं बढ़ाया बल्कि कुछ प्राइवेट पूँजीपतियों तथा साहूकारों द्वारा बड़े पैमाने के उद्योगों के दुरुपयोग से इनको बढ़ावा मिला। वे मानते थे कि मशीनों से मनुष्य की शक्ति निर्माण तथा विनाश, अच्छाई तथा बुराई दोनों के लिए बहुत अधिक बढ़ जाती है। किन्तु पूँजीवाद के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करके बड़ी मशीनों से उत्पन्न बुराईयों तथा हिंसा को समाप्त करना संभव है। उन्होंने 1939 में कहा था- “अनिवार्यतः समाज में निजी स्वामित्व तथा अर्जनशीलता से प्रतिस्पर्धात्मक हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवादी समाज के अन्तर्गत इस बुराई को समाप्त हो जाना चाहिए और इसके साथ-साथ हमारे लिये बड़ी मशीनों द्वारा लाई गयी अच्छाईयां ही बचनी चाहिए।”

निष्कर्ष

नेहरूजी ने एक लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर ही लोकतांत्रिक और समाजवाद तथा योजना-निर्माण के लिये योगदान दिया परन्तु उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य में तथा भारत को आर्थिक लोकतंत्र की दिशा की ओर ले जाने के उद्देश्य में अपने विश्वास को कभी नहीं त्यागा उन्होंने चेतावनी दी थी कि राजनीतिक लोकतंत्र तब तक अपने आपको कभी अच्छा साबित नहीं कर सकेगा जब तक कि अन्ततः इसका लाभ न मिलने लगे, अन्यथा इसे आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था का ऐसा कोई और रूप लेना पड़ेगा जिसे हम पसन्द करते हैं या नहीं। उन्होंने लोगों को याद दिलाया कि राजनीतिक लोकतंत्र की कोरी बातों का वह महत्व अब नहीं रहा है जो 19वीं शताब्दी में था। राजनीतिक लोकतंत्र तभी



सार्थक होगा जब उसकी परिणति धीरे-धीरे या आप चाहें तो शीघ्रता से , आर्थिक लोकतंत्र में होगी। यदि देश में आर्थिक असमानता है तो विश्व में राजनीतिक लोकतंत्र और वयस्क मताधिकर के होने से वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। इसलिये आपका लक्ष्य वर्ग और वर्ग के बीच सभी प्रकार के मतभेदों को दूर करना और अधिक समानता लाना और अधिक एकात्मक समाज की स्थापना करना है। दूसरे शब्दों में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये हमें गहन प्रयास करना चाहिये। हमें अन्ततः वर्गहीन समाज की स्थापना करने की दिशा में सोचना चाहिये।

सन्दर्भ

1. लक्ष्मीमल्ल सिं घवी, भारत और हमारा समय , नटराज प्रकाशन, दिल्ली 1995, पृष्ठ-92
2. लक्ष्मीमल्ल सिं घवी, भारत और हमारा समय , नटराज प्रकाशन, दिल्ली 1995, पृष्ठ-94
3. सुभाष कश्यप , संविधान की आत्मा , नेशनल, दिल्ली, 1971, पृष्ठ- 37-38
4. सुभाष कश्यप , संविधान की आत्मा , नेशनल, दिल्ली, 1971, पृष्ठ- 37
5. सुखेदव प्रसाद, नेहरू और विज्ञान, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृष्ठ- 33-34
6. सुभाष कश्यप, जवाहर लाल एण्ड दा कांस्टीट्यूशन, मेट्रोपोलिटन, नई दिल्ली, 1982, पृष्ठ-103
7. आत्मकथा, 24वाँ कालम
8. इण्डियन नेशनल कांग्रेस , रिजोल्यूशन्स आन इकानामिक पालिसी , प्रोग्राम एण्ड अलाइड मैटर्स 1924-1954, नई दिल्ली, 1954, पृष्ठ-14
9. इण्डियन नेशनल कांग्रेस , रिजोल्यूशन्स आन इकानामिक पालिसी , प्रोग्राम एण्ड अलाइड मैटर्स 1924-1954, नई दिल्ली, 1954, पृष्ठ- 15-16
10. इण्डियन नेशनल कांग्रेस , रिजोल्यूशन्स आन इकानामिक पालिसी , प्रोग्राम एण्ड अलाइड मैटर्स 1924-1954, नई दिल्ली, 1954, पृष्ठ- 18-19

11. ग्रेनविल आस्टिन , दि इंडियन कांस्टीट्यूशन , कार्नरस्टोन आफ ए नेशन , प्रथम भारतीय संस्करण, 1972, पृष्ठ-26
12. ग्रेनविल आस्टिन , दि इंडियन कांस्टीट्यूशन , कार्नरस्टोन आफ ए नेशन , प्रथम भारतीय संस्करण, 1972, पृष्ठ-11
13. जवाहरलाल नेहरू, टुवर्डस फ्रीडम, जान डे को , न्यूयार्क, 1941, पृष्ठ- 314-26
14. जवाहरलाल नेहरू, टुवर्डस फ्रीडम, जान डे को , न्यूयार्क, 1941, पृष्ठ- 314-26
15. जवाहरलाल नेहरू, इंडिया एण्ड दि वल्ड , लंदन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1936, पृष्ठ- 39-63
16. जवाहरलाल नेहरू, इंडिया एण्ड दि वल्ड , लंदन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1936, पृष्ठ- 39-63
17. जवाहरलाल नेहरू का मैं अध्यक्षीय भाषण , 29 दिसम्बर, 1929 ए.एम. जैदी , कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण, खण्ड 4, 1925-39, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ एप्लाइड पोलिटिकल रिसर्च नई दिल्ली, 1988
18. जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी आफ इंडिया, ऐशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, 1962, पृष्ठ- 517-23
19. जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी आफ इंडिया, ऐशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, 1962, पृष्ठ- 517-23
20. कृष्ण कृपलानी को पत्र , 29 सितम्बर, 1939 जवाहरलाल नेहरू , ए बंच आफ ओल्ड लैटर्स में , ऐशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, 1960, पृष्ठ-382
21. लोकसभा वाद-विवाद , दिसम्बर, 1952, पृष्ठ- 2371-72